



बाजारवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (EFFECTS OF MARKETISM ON HINDI LITERATURE.)

DR. SANJEEV KUMAR ¹

¹ ASSISTANT PROF IN HINDI, GOVT. COLLEGE BEETAN, DISTT UNA (HIMACHAL PRADESH)- 176601

ABSTRACT:

साहित्य का अर्थ - किसी भाषा के वाचिक और लिखित (शास्त्रसमूह) को साहित्य कह सकते हैं। अन्य अर्थों में 'सहित' या 'साथ' होने की अवस्था। गद्य एवं पद्य की वे समस्त पुस्तकें जिनमें नैतिक सत्य और मानवभाव, बुद्धिमत्ता तथा व्यापकता से प्रकट किए गए हों। साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। एक साहित्यकार समाज की वास्तविक तस्वीर को सदैव अपने साहित्य में उतारता रहा है। मानव जीवन समाज का ही एक अंग है। मनुष्य परस्पर मिलकर समाज की रचना करते हैं। दूसरों शब्दों में, किसी भी काल के साहित्य के अध्ययन से हम तत्कालीन मानव जीवन के रहन-सहन व अन्य गतिविधियों का सहज ही अध्ययन कर सकते हैं या उसके विषय में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। एक अच्छा साहित्य मानव जीवन के उत्थान व चारित्रिक विकास में सदैव सहायक होता है।

KEYWORDS:

बाजारवाद, हिन्दी साहित्य, प्रभाव

1. बाजारवाद - वह मत या विचारधारा जिसमें जीवन से सम्बंधित हर वस्तु का मूल्यांकन केवल व्यक्तिगत लाभ या मुनाफ़े की दृष्टि से ही किया जाता है; मुनाफ़ा केन्द्रित तंत्र को स्थापित करने वाली विचारधारा अथवा हर वस्तु या विचार को उत्पाद समझकर बिकाऊ बना देने की विचारधारा। बाजार एक ओर तो एकाधिकार तो तोड़ता है तो दूसरी ओर असमान समाज और उसकी विषमता को बढ़ावा देता है। वह किसी एक व्यक्ति की या समूह की क्रयशक्ति पर नजर रखता है।

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास और बाजारवाद : हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि बाजारवाद का वर्णन किसी न किसी रूप में होता रहा है। कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, मीरा आदि अनेक संत कवियों के काव्य में बाजार की उपस्थिति दर्ज की गई है। बाजार हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है क्योंकि बाजार और मेलों के साथ आनन्द और उल्लास जुड़ा हुआ था। सामाजिक जीवन में वस्तु-विनियम के द्वारा सख-दुःख का आदान-प्रदान भी बाजार के माध्यम से ही हुआ करता था। ससुराल या मायके का कुशल क्षेम भी बाजार के बहाने ही पूछा जाता था। संत कबीर बाजार के बीच खड़े होकर कहते हैं -

कबीरा खड़ा बाजार में माँगे सब की खैर।

सूरदास की गोपिकाएँ तो हर रोज सुबह सवेरे ही ब्रज (गोकुल) से मथुरा के बाजार में दूध, दही, माखन और घी बेचने जाया करती थीं। उस समय का मथुरा बाजार तो हर्षोल्लास का प्रतीक बनकर अजर-अमर हो गया है। दूसरी ओर सगुण साकार कृष्ण भक्त गोपियाँ निर्गुण निराकार उद्भव को खरी-खोटी सुनाते हुए कहती हैं - आयो घोष बड़ो व्यापारी। समय के साथ-साथ बाजार का चेहरा, चरित्र और मूल्य भी बदल गया है। वस्तु-विनियम की जगह आज रूपयों ने ले ली है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने 'अंधेरनगरी' के माध्यम से बाजार की पोल खोल दी है।

यह सर्वविदित है कि अंग्रेज मूलतः व्यापारी बनकर बाजार के उद्देश्य से ही भारत आए थे। उसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने बाजार की जड़ें इतनी पक्की कर दी कि वे सैकड़ों वर्षों तक देश के शासक बनकर सत्तासीन रहे। बाजार में वस्तुओं की बिक्री एवं खरीददारी तो उचित है परन्तु ऐसा भी देखने को मिलता है कि इन्सानों को खरीदकर उन्हें गुलाम बनाया जाता है। बाजार में सरेआम बिकाऊ इन्सान के सिर पर चारा या घास-फूस की गठरी रखकर नीलामी की जाती है। किसी कवि ने कहा है -

'बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर जहाँ सारा देखता है'

3. साहित्य सृजन और बाजारवाद : सृजन विशुद्धतः नैसर्गिक उर्जा है, अप्रत्याशित, अज्ञात और अलक्षित रोशनी, कब, किस में और किस स्तर तक प्रकट हो उठे, कह पाना असम्भव है। सृजन शक्ति के पोषक तत्व हैं - उद्दाम भावुकता, जमीनीपन, सृष्टिधर्मिता और कल्पनाशीलता। सच से आँख मिलाने का हौसला है - तो सृजन है, यथार्थ की नयी परिभाषा गढ़ने की जिद है तो सृजन है। वहीं सांसारिकता का व्यामोह, भौतिक ऐश्वर्य का स्थूल आकर्षण, मोहजाल और जादू रचनात्मक व्यक्तियों को कुछ इस कदर दिग्भ्रमित करता है कि उस पर भौतिक माया का अखण्ड नशा छा जाता है और कई बार तो रचनाकार इस माया को निरन्तर हासिल करते रहने के लिए ही सृजन को मोहरा बनाता है। बाजारवाद ने मनुष्य को सुख, सुविधा, ऐयाशी का कौन सा स्रोत बाकी रखा है? अब 'पेनड्राइव' की लोकप्रियता पृथ्वी की परिधि माप रही है। किन्तु गौर करने लायक बात यह है कि अव्वल दर्जे वाली रचनात्मक मेधा कहाँ विलुप्त हो गई है? समकालीन हिन्दी साहित्य अपनी किसी भी विधा में कालजयी सर्जक हासिल करने के लिए तड़फ रहा है तो क्यों? हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध और नागार्जुन के बाद, लगभग चालीस वर्षों के दौरान एक भी सर्वस्वीकार्य अव्वल कवि क्यों नहीं?

आलोचना में रामविलास शर्मा और कथा साहित्य में रेणु के बाद चमकता और रोशन करता एक भी ध्रुव तारा क्यों नहीं? बाजारवादी युग का

मनुष्य किसी सत्ता, साम्राज्य या सरकार का भले गुलाम न हो - किन्तु वह ईश्वरनुमा बाजारवाद का घनघोर गुलाम बन चुका होता है। बाजारवाद की यह आकंठ गुलामी उसे मनुष्य के स्तर पर बौना कर डालती है। मनुष्य होकर भी वह विपरीत मानव बनने लगता है। न्यूनतम मानव मूल्य धारण करने लायक भी वह नहीं रह जाता। उसके लिए मानवीय सम्बंध खेल से ज्यादा कुछ नहीं हैं। उसके लिए न विश्वास की कोई कीमत है, न पारिवारिक-सामाजिक कर्तव्यों की और न ही वैयक्तिक जिम्मेदारियों की। आजकल दिन-प्रतिदिन ऐसे ही धनांध रचनाकारों की फौज बढ़ती जा रही है जो नाम और दाम की कमाई कर रहे हैं। लेखक के सामने आज आत्मप्रचार का दबाव है, बाजार में अपने नाम का सिक्का चलाने की होड़ मची हुई है।

4. उपभोक्तावाद, भूमंडलीकरण और सूचनाक्रांति - इक्कीसवीं सदी का समय और समाज तो तकनीकी युग का है। उपभोक्तावाद और सूचनाक्रांति की अंधी दौड़ में हमारे पारस्परिक प्रेम और सद्भाव की गठरी ढीली पड़ चुकी है। वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के चमकीले नारों के पीछे हमारी मानवीय संवेदना को ग्रहण लग चुका है। 'बाजारवाद' हमारे चारों ओर मायानगरी की तरह व्याप्त है। इसका विरोध और धिक्कार करने के उपरान्त भी हम उसी में जीने के लिए अभिशप्त हैं। आज भूमंडलीकरण के द्वारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्', भारतीय संस्कृति का यह आधारभूत सत्य केवल देखावा मात्र रह गया है। सच तो यह है कि आज जिस भूमंडलीकरण का डंका बज रहा है, वह भारतीय संस्कृति के उपरोक्त सत्य से बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रहा है। आज हम जिस संसार में रह रहे हैं, उस पर उपभोक्तावाद हावी हो चुका है, किन्तु विचित्र बात यह है कि उसके उद्भव के विषय में शायद ही कोई तार्किक चर्चा कर पा रहा हो। वास्तविकता तो यह है कि उपभोग और उत्पाद बाजारवाद का अभिन्न अंग हैं। उत्पादन सृजन करता है तो उपभोग सृजित वस्तुओं का अस्तित्व समाप्त कर देता है। औद्योगिक क्रांति के बाद उत्पादन तेजी से बढ़ा और ग्राहकों को रिझाने के लिए विभिन्न रूपों में विज्ञापनों का सहारा लिया गया और लिया जा रहा है और इसमें संदेह नहीं कि भविष्य में ऐसा नहीं होगा। संभावित ग्राहकों के मानस को इस प्रकार प्रभावित किया जाने लगा है कि उत्पादों के प्रति उनके मन में लालच उत्पन्न हो, जरूरत हो या न हो, उन्हें अवश्य खरीदें। रातों-रात गोरा होने की महत्वाकांक्षा ने और सुन्दर दिखने की चाहत से उत्पादनों के बीच जानलेवा प्रतियोगिता शुरू हो गई। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह प्रतियोगिता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी है। ऐसे समय में साहित्य पीछे कैसे रह जाता? वह भी बाजार की आवश्यकता के अनुसार लिखा जाने लगा और छपने भी लगा, परन्तु किस लेखक को साहित्य की परिधि में रखना चाहिए और किसे दर-किनार कर देना चाहिए, इस बात पर आलोचना-समालोचना और समीक्षा के क्षेत्र में होड़ लग गयी। सृजनात्मकता, भावात्मक परिपूर्ति, सांस्कृतिक पहचान, रचनात्मक गरिमा, उच्च चिंतन, मनन, ज्ञानवर्धक सामग्री, सामाजिक उत्तरदायित्व, भाषागत स्पष्टता और शैलीगत नवीनता, शोध के नए आयाम आदि अनेक कसौटियों के आधार पर साहित्य अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है। महज मनोरंजनवादी या घासलोटी लेखन साहित्य की कसौटी पर खरा नहीं उतर पायेगा।

जब हम लाखों में बिकने वाली पत्र-पत्रिकाओं की बात करते हैं

इसका मतलब उस स्तर का गिरना नहीं होता, बल्कि पाठक की नब्ज टटोलना होता है। पाठक उतना पागल नहीं है जितना हमारे प्रबुद्ध आलोचक समझते हैं। शब्दों का आडम्बर या अंतरजाल बिछाकर आप पाठकों को उस चंगुल में नहीं फंसा सकते। साहित्य को यदि समाज का प्रतिबिम्ब घोषित किया जा रहा है तो क्या सचमुच उसमें सम्पूर्ण समाज की झलक दिखाई दे रही है? दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक समाज, किसान या अन्य जनजातियों की प्रतिमा इस साहित्य में परिलक्षित हो रही हैं? किसानों, मजदूरों के हालात पर कोई लेखक कलम घिस रहा है, यदि लिख भी रहा है तो महज पुरस्कार प्राप्ति के लिए। आज कई विश्वविद्यालयों में वही परम्परागत पाठ्यक्रम पढ़ाए जा रहे हैं जिससे वर्ण व्यवस्था को बढ़ावा मिल सके। शोध कार्य भी केवल छात्रवृत्ति या प्रमोशन इत्यादि के लिए किया जा रहा है। प्रकाशन संस्थान भी मूल रचनाओं को तोड़-मरोड़कर नामांतर या नाम विस्तार कर आए दिन नए-नए संस्करण निकालकर मुनाफा कमा रहे हैं। बाजारवाद समाज संचालन का कार्य अपने हाथ में लेकर समाज का तेजी से विघटन कर रहा है। बाजारवाद के निर्णायक हो जाने पर हिन्दी साहित्य को उसके दुष्प्रभावों से बचाया जाना टेढ़ी खीर अनुभव हो रहा है।

कुछ बातें बाजारवाद को कोसने बालों के लिए भी जरूरी हैं। बाजार ने केवल हमें ठगा ही नहीं, दिया भी बहुत कुछ है। आजकल तो बाजार का बड़े से बड़ा हिस्सा महानगरों से खिसक कर गांवों की तरफ जा रहा है। पुराने जमाने में बाजार गांव बाजार के बाहर लगाया जाता था, परन्तु आज तो बाजार हमारे गली-मुहल्लों में लग रहा है। हर चीज बिकाऊ बन गई है। बाजार में आप किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर जाते हैं, परन्तु बाजारवादी सोच में आप बाजार में जाते नहीं बल्कि बाजार की चीजें आपका पीछा करती हैं। वाहनों का बाजार, सौंदर्य प्रसाधनों का बाजार, अवांछित पेयों का बाजार, वस्त्रों और साजो-सामान का बाजार तो मुख्यतः इसी तरह फैल चुका है। आज का बाजारवाद उत्तर पूंजीवाद समाज में हमें उपभोक्ता बनाकर धन कमाने में विश्वास रखता है। इसकी गवाही हमारा हिन्दी साहित्य आदिकाल से लेकर आज तक देता आ रहा है। इसलिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य एवं इसके इतिहास का पुनरावलोकन करना अति आवश्यक है।

वर्तमान समय में बाजारवाद को लेकर हम दुविधा की स्थिति में हैं, क्योंकि आधुनिक संचार माध्यम और यातायात के विकास से संसार की सभी संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आ गई हैं। आए दिन उनमें गम्भीर रूप से टकराहट की स्थितियाँ भी पैदा हो रहीं हैं। कभी भाषाई वर्चस्व तो कभी रहन-सहन का वर्चस्व स्थापित कर एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। आज यह मानने को विवश होना पड़ता है कि बाजारवाद साहित्य सृजन का जहर है। यह ऐसा आकर्षक महाजाल है जो मनुष्य को अपने आप से दूर बहुत दूर ले जाता है। अपने को पहचानने वाली अंतरदृष्टि पर पर्दा डाल देता है। यह बाजारवाद मनुष्य को प्रत्येक दृष्टि से अघोषित गुलाम बनाता है। इसके अतिरिक्त बाजार संस्कृति के एकछत्र प्रसार से दुनिया के अधिकांश देशों में सार्थक सांस्कृतिक जीवन के लोप होने का भय है। प्रश्न यह है कि इस दुविधा से मुक्ति कैसे मिले? इस समस्या का समाधान इसी में हो सकता है कि मूल्यों की विविधता के बीच कुछ ऐसे मूल्यों की तलाश हो जो विविधता के बावजूद भी विभिन्न मानव समूहों और उनकी संस्कृतियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को

स्थापित करने की कोशिश हो।

5. साहित्य समाज का दर्पण भी है और दीपक भी - भौतिक सृष्टि के इतिहास में एक से बढ़कर एक सृजन के चमत्कार प्रकट हुए हैं और आगे भी अनिवार्यतः होंगे। बाजारवाद तो क्या ? सार्वभौमिक बाजार का युग छा जाये समूचे विश्व में, तब भी साहित्य सृजन के आश्चर्य साकार होते ही रहेंगे। बाजारवाद ने मनुष्य की भौतिकप्रेमी आकांक्षा में समुद्र की भांति तूफान ला दिया है - यह सत्य है; किन्तु इस निराशा के युग में कोई दूरदर्शिता का स्वामी व्यक्तित्व जरूर खड़ा होगा, जो बाजारवाद के बीच, बाजारवाद के खिलाफ खड़ा होगा जो प्रलोभनों की भीड़ में एक वैरागी की तरह अकेले कबीरी राग छेड़ेगा, जो युग के प्रत्येक अंधकार का जवाब अपनी रोशन आत्मा की अचूक वाणी से देगा। रचनामयी क्षमता पर अखण्ड विश्वास न करने का कोई कारण ही नहीं है।

यह सत्य है कि साहित्य की पर्याप्त भूमिका फिर भी रहेगी तथा पुस्तकें और साहित्यिक पुस्तकें पढ़ने वाले पाठक कम नहीं होंगे क्योंकि साहित्य की भूमिका अत्यधिक गहरी और स्थाई होती है। आजकल ऐसी आशंका व्यक्त की जा रही है कि जैसे-जैसे बाजारवाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे साहित्य आम जनमानस से कटता जा रहा है। मीडिया के माध्यम से जो साहित्य सामने आ रहा है, वह साहित्य के नाम पर कुछ और ही है। क्योंकि उसमें न कला है, न यथार्थ और न ही जीवन मूल्य। अतः मीडिया के माध्यम से साहित्य के सही स्वरूप का प्रसारण न होने से कहीं न कहीं प्रश्नवाचक चिन्ह अवश्य लग रहा है। परन्तु वर्तमान समय में, ताकि साहित्य बाजार के हाशिये पर न हो, बाजारवाद के इस युग में सार्थक साहित्य की पहचान करना, उसकी महत्ता को समझना आवश्यक हो गया है ताकि साहित्य के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति हो सके, समाज का हित हो, नई युवा पीढ़ी की रुचि साहित्य सृजन की ओर बढ़े, साहित्य में 'लोकमंगल' की भावना चरितार्थ हो तथा लेखन कार्य तथा साहित्य सृजन के साथ-साथ लेखक व साहित्यकार वर्ग को अधिक से अधिक प्रोत्साहन भी मिले सके। क्योंकि 'साहित्य समाज का दर्पण भी है और दीपक भी'।

REFERENCES

1. मीडिया : मिशन से बाज़ारीकरण तक, रामशरण जोशी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
2. नया मीडिया : नये आयाम, किंशुक पाठक, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली-02।
3. मीडिया विमर्श, रामशरण जोशी, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।
4. मीडिया शिक्षा - मुद्दे और अपेक्षाएँ, संजय द्विवेदी, यश पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
5. इन्साइक्लोपीडिया।

शोधकर्ता :-

डॉ संजीव कुमार, सहायक प्रोफेसर हिन्दी
राजकीय महाविद्यालय बीटन,
जिला -ऊना (हिमाचल प्रदेश)